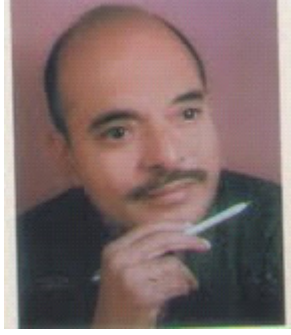




महेंद्रभटनागर



आदित्य प्रचंडिया

## कवि महेंद्रभटनागर : एक साक्षात्कार

[प्रोफेसर आदित्य प्रचण्डिया]

### आपका पारिवारिक परिवेश क्या रहा?

मेरे पिता श्री. रघुनन्दनलाल जी ग्वालियर-रियासत में अल्प-वेतन-भोगी अध्यापक थे। हमारा परिवार निर्धन था। पिता जी ने प्राइवेट परीक्षार्थी के रूप में 'आगरा विश्वविद्यालय' की स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण की थी — इतिहास विषय में। पिता जी शिक्षाविद् होने के साथ-साथ सामाजिक कार्यकर्ता भी थे। ग्वालियर-रियासत शाखा 'बॉय स्काउट' से सम्बद्ध थे। मैं भी, उनके साथ एकाधिक केम्पों में शामिल हुआ। 'आर्य समाज' नियमित जाते थे। घर पर, प्रातःकाल 'हवन' होता था — वैदिक ऋचाओं के साथ। मैं भी भाग लेता था। वॉली-बॉल के अच्छे खिलाड़ी थे। फलस्वरूप मैं भी अनेक खेलों में भाग लेता रहा — हॉकी, फुटबॉल, वॉली-बॉल,

कबड्डी, खो-खो और ऐथेलेटिक्स में (हाई-जम्प)।

मेरी माँ श्रीमती गोपाल देवी आदर्श गृहिणी थीं। हिन्दी और उर्दू की ज्ञाता थीं। 'श्रीरामचरित मानस' का पाठ नियमित करती थीं। वैष्णव थीं। छुआछूत मानती थीं। रसोई में प्याज-लहसुन वर्जित था। बूंदेलखंडी लोकगीतों में उनकी विशेष रुचि थी। बचपन में अनेक लोक-कथाएँ उनसे सुनीं। घर में गायन के कार्यक्रम प्रायः होते रहते थे —ढोलक-मजीरों पर। बाद में, हारमोनियम भी। मुहल्ले की औरतें इकट्ठी होती थीं। घर में खूब तीज-त्योहार मनते थे। घर के सांस्कृतिक वातावरण का प्रभाव मेरे मानस पर पड़ना स्वाभाविक था। माँ मूर्तिपूजक थीं; पिता जी आर्य-समाजी। लेकिन परस्पर कभी विवाद नहीं हुआ। घर में माँ की ही चलती थी। पिता जी ने कभी कोई बाधा नहीं डाली। न विरोध किया। उदार और सहनशील वातावरण में मैं पला-बढ़ा।

### साहित्य-लेखन में आप कैसे और किसकी प्रेरणा से आए?

मेरे साहित्य-सर्जन के प्रेरक तत्त्वों में पारिवारिक परिवेश प्रमुख है।

प्रारम्भिक कक्षाओं की हिन्दी की पाठ्य-पुस्तकों में संकलित कविताओं में भी मेरी रुचि रही। संकलित कविताएँ बहुत चाव से पढ़ता था। आनन्दित होता था। प्रारम्भिक शिक्षा ग्राम-परिवेश में हुई। सबलगढ़ (मुरैना — मध्य-प्रदेश) में। ग्राम-परिवेश और प्रकृति ने मुझे आकर्षित किया। सबलगढ़ के जंगलों में खूब घूमा — भटका। गरम प्रदेश में रहा; एतदर्थ रात में सोना छत पर होता था। चाँद-तारों से रिश्ता बढ़ा। इस सब की अभिव्यक्ति मेरी प्रारम्भिक रचनाओं में देखी जा सकती है। आगे चलकर, आवासीय उपनगर मुरार (ग्वालियर) में प्रायः आयोजित

कवि-सम्मेलन / मुशायरे मुझे कविता और कवियों से जोड़ने में सहायक हुए। मैं भी लुक-छिप कर काव्य-रचना (तुकबंदियाँ) करने लगा। नवम्बर सन् १९४१ के पूर्व जो काव्य-सृष्टि की वह अप्राप्य है। इस काल में, प्रकृति मेरी कविता की सहचरी रही।

सत्र १९४१-४२ विक्टोरिया कॉलेज ग्वालियर में, उच्च-शिक्षा हेतु प्रवेश लिया (उम्र १५ वर्ष)। अंग्रेजी और हिन्दी के अतिरिक्त अध्ययन के अन्य विषय थे — अर्थशास्त्र और भूगोल। कॉलेज के माहौल और अध्ययन-विषयों ने मेरे चिन्तन को नयी दिशा दी। द्वितीय विश्व-युद्ध की पृष्ठभूमि और भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम की गतिविधियों ने मुझे प्रकृति से समाजार्थिक धरातल पर ला खड़ा किया। यह काल मेरे लिए बौद्धिक चेतना का काल रहा।

### आपने किन-किन विधाओं में लिखा है?

मेरा साहित्य-लेखन कविता-विधा से प्रारम्भ हुआ। आगे भी कविता मेरे लेखन की प्रमुख विधा रही और आज भी है। अधिकतर लघु-विस्तारी कविताएँ और गीत ही लिखे। चूँकि अध्यापक रहा; अतः आलोचना-कर्म में भी सहज प्रवृत्त हुआ। आलोचक के नाते हिन्दी-जगत् में पर्याप्त सम्मान मिला। विभिन्न विधाओं के अनेक रचनाकारों से संबंध स्थापित हुए। एक बृहत साहित्यिक परिवार का अंग बन जाना; स्वयं में एक सुखद अनुभव रहा। किन्तु, जीवन-संघर्ष और समयाभाव आलोचना-कर्म में बाधक रहे। अध्ययन और लेखन के लिए वांछित सुविधाएँ न पा सका। कवि-कर्म की गति भी मंथर रही। आज-तक लगभग एक-हज़ार कविताओं की ही रचना कर सका। साहित्य-लेखन मेरा पेशा नहीं रहा। कविता और आलोचना के अतिरिक्त लघु-कथाएँ, एकांकी / रूपक और बाल-साहित्य की कुछ कृतियाँ

प्रकाशित हुई हैं।

### आपके काव्य-गुरु कौन हैं? उनसे आपने कितनी प्रेरणा ली?

‘काव्य-गुरु’ जैसा तो कोई नहीं। हाँ, दो वरिष्ठ यशस्वी कवियों के निकट सम्पर्क में अवश्य रहा। वे हैं — श्री. जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द (सन् १९४१ से) और श्री. शिवमंगलसिंह ‘सुमन’ (सन् १९४५ से)। इनसे पारिवारिक संबंध भी रहे। मिलिन्द जी ने मेरी कविताएँ अपने साप्ताहिक पत्र ‘जीवन’ में प्रकाशित कीं। वैसे अपने समय के अनेक कवियों की रचनाएँ मुझे भाती रही थीं। यथा — मैथिलीशरण गुप्त (‘साकेत’, ‘यशोधरा’), जयशंकर प्रसाद (‘आँसू’, ‘कामायनी’), सुमित्रानंदन पंत (‘पल्लव’, ‘गुंजन’, ‘ग्राम्या’), निराला, महादेवी वर्मा, ‘बच्चन’, एवं अनेक लब्ध-प्रतिष्ठ कवियों की फुटकल रचनाएँ।

### आपकी दृष्टि में कविता क्या है?

कविता को परिभाषित करना साहित्याचार्यों का काम है। कवि का संबंध कविता के रचना-पक्ष से है; सैद्धांतिक पक्ष से नहीं। अन्यथा भी, आज-तक कविता की कोई परिभाषा निश्चित नहीं हो सकी है। मैंने जब-तब कविता के संबंध में विमर्श किया जरूर है। महत्त्व की दृष्टि से कविता के प्रमुख तत्वों का क्रम मेरे लिए इस प्रकार है — भाव, विचार, कल्पना, शिल्प। महाकवि तुलसीदास के इन कथनों से सहमत हूँ :

☉ कीरति भणति भूति भलि सोई।

सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

⌚ हृदय सिन्धु मति सीप समाना।

स्वाती सारद कहहिं सुजाना॥

जो बरखे बर बारि विचारू।

होंहि कवित मुक्ता मनि चारू॥

⌚ गीत मेरे लिए है :

“ सूक्ष्म पावन अनुभूतियों-भावनाओं-संवेदनाओं, विराट कल्पनाओं और उदात्त विचारों की सुन्दर सहज स्वतःस्फूर्त संगीतमयी अभिव्यक्ति गीत है।”

आज की कविता आपके निकष पर कहाँ ठहरती है?

आज की हिन्दी-काविता का स्वरूप बदल गया है। माना, अपने परम्परागत स्वरूप में भी वह आज लिखी जा रही है। इन दोनों प्रकार की कविताओं से जिन पाठकों का आवर्जन होता है; उनकी मानसिक बनावट समान नहीं है। मात्र भावुकता, तुकबंदी, बासी उपमानादि, घिसे-पिटे शब्द आदि वर्तमान वैज्ञानिक युग के बुद्धिजीवियों को कर्तई पसंद नहीं। अभिव्यक्ति-सौन्दर्य में नयापन वर्तमान युग के रचनाकारों और प्रबुद्ध पाठकों के समक्ष बुनियादी तत्त्व हैं। हिन्दी भाषा की कथन-भंगिमाएँ भी आश्चर्यजनक रूप से अभिनव रूप में लक्षित हो रही हैं। शब्दों और शब्द-रूपों में समृद्धि निरन्तर हो रही है। हिन्दी में फ़ारसी शब्द ही नहीं; अंग्रेज़ी शब्द-प्रयोग भी अपने सहज रूप में अवतरित हो रहे हैं। एक वैश्विक वातावरण आज की

हिन्दी-कविता में द्रष्टव्य है। हिन्दी-कविता का यह धन-पक्ष है। माना, इसके समान्तर दुरूह, असंगत, बोझिल, उबाऊ अभिव्यक्तियाँ भी हिन्दी-काव्य में जमकर-खुलकर लिपिबद्ध हो रही हैं। यह कचरा दिन-पर-दिन बढ़ता जा रहा है। कौन पढ़ता है इसे?

आपने छायावादोत्तर काल से कविता लिखना शुरू किया और आज तक सक्रिय हैं। आप किस खेमे के कवि हैं? प्रगतिवादी-जनवादी या कुछ और?

मेरा काव्य-लेखन सन् १९४१ के लगभग अंत से प्रारम्भ होता है। इस समय तक हिन्दी-कविता अपनी अनेक मंज़िलें तय कर चुकी होती है। सन् १९३६ से प्रगतिवाद की दुंदुभी बजने लगी थी। सन् १९४३ में 'तार-सप्तक' आ गया। हिन्दी-कविता के तत्कालीन परिदृश्य का परिज्ञान मुझे सन् १९४५-४६ से ही हो पाता है। इसके पूर्व का काल मेरे छात्र-जीवन का काल रहा। क्रमशः हिन्दी कवियों और उनकी काव्य-उपलब्धियों को जानने-समझने का क्रम चला। छायावादोत्तर हिन्दी-कविता की दो धाराएँ — राष्ट्रीय उद्बोधन और गीति-रचना की — अविच्छिन्न चलती रहीं। लेकिन कविता-क्षेत्र में मेरे प्रवेश के समय प्रगतिवाद प्रतिष्ठित हो चुका था। सन् १९४५-४६ से मैं प्रगतिवादी कविता की मूल धारा से जुड़ा। 'हंस' के माध्यम से। अमृतराय, त्रिलोचन शास्त्री, ग. म. मुक्तिबोध, पहाड़ी, नागार्जुन, बैजनाथसिंह 'विनोद' आदि साहित्यिक पत्रों के सम्पादकों ने मेरे काव्य-कर्तृत्व में रुचि ली। प्रगतिवादी कविता का यह दूसरा दौर था। पूर्व के अधिकांश प्रगतिवादी कवि उम्र में मुझसे एक दशक अधिक थे। इसी कारण, कुछ समीक्षकों ने, इस काल की प्रगतिवादी कविता को 'नवप्रगतिवाद' के नाम से अभिहित किया है; यद्यपि यह नाम प्रचलित हुआ नहीं। बहुत शीघ्र 'प्रयोगवाद' और 'नयी कविता' की

काव्य-धाराएँ उभर कर आ-छा गयीं। ‘अज्ञेय’ इस लेखन के पुरोधा बने। ‘प्रतीक’ में मैंने भी लिखा। लेकिन ससक-परम्परा से अपने को जोड़ना नहीं चाहा। ग.म. मुक्तिबोध और गिरिजाकुमार माथुर ने पहल भी की।

[द्रष्टव्य — मुक्तिबोध-लिखित ‘टूटती शृंगलाएँ’ की समीक्षा — “इस तरह वह (महेन्द्रभटनागर) ‘तार-ससक’ के कवियों की परम्परा में आता है; जिन्होंने सर्वप्रथम हिन्दी-काव्य की छायावादी प्रणाली को त्याग कर नवीन भावधारा के साथ-साथ नवीन अभिव्यक्ति शैली को स्वीकृत किया है। इस शैली की यह विशेषता है कि नवीन विषयों को लेने के साथ-साथ नवीन उपकरणों को और नवीन उपमाओं को भी लिया जाता है तथा काव्य को हमारे यथार्थ जीवन से संबंधित कर दिया जाता है। इसे हम वस्तुवादी मनोवैज्ञानिक काव्य कह सकते हैं। ..... किन्तु सबसे बड़ी बात यह है, जो उन्हें पिटे-पिटाये रोमाण्टिक काव्य-पथ से अलग करती है और ‘तार-ससक’ के कवियों से जा मिलाती है वह यह है कि अत्याधुनिक भावधारा के साथ टेकनीक और अभिव्यक्ति की दृष्टि से उनका (महेन्द्रभटनागर का) उत्तरकालीन काव्य मॉडर्निस्टिक या अत्याधुनिकतावादी हो जाता है।”]

और श्री. गिरिजाकुमार माथुर का ‘आलोचना’ (जुलाई १९५४, पृ. ६४) में प्रकाशित आलेख :

[“ शताब्दी के अर्धचरण तक आते-आते नए कवियों की एक और पीढ़ी उठकर साहित्य-क्षितिज पर आई। धर्मवीर भारती, हरि व्यास, नरेश मेहता, रघुवीर सहाय, शकुन्त माथुर, महेन्द्रभटनागर, सर्वेश्वरदयाल, मदन वात्स्यायन, विजयदेव साही, नामवर सिंह, सिद्धनाथ कुमार, राजनारायण बिसारिया आदि कितने ही नये कवि हमारे सामने हैं।”]

— इनमें से अधिकांश 'सप्तक' संकलनों में विद्यमान हैं।

इन्हीं दिनों प्रगतिवादी समीक्षकों में मतभेद उभरे। डा. रामविलास शर्मा, रांगेय राघव, अमृतराय आदि में सैद्धांतिक वाद-विवाद छिड़ गया। प्रो. प्रकाशचंद्र गुप्त और शिवदानसिंह चौहान पर्याप्त संतुलित रहे। हिन्दी-कविता की मूल धारा से जुड़े रहने के फलस्वरूप मेरा कविता-लेखन विकसित होता रहा। किसी राजनीतिक पार्टी के प्रति मैं कभी प्रतिश्रुत नहीं रहा; यद्यपि समाजवादी-साम्यवादी समाज-व्यवस्था का समर्थक जरूर रहा। 'प्रगतिशील लेखक संघ' और 'जनवादी लेखक संघ' की विचार-धारा से मेरा चिन्तन पर्याप्त मेल खाता है; अतः साहित्य के इन आन्दोलनों में मेरी भी अपनी भूमिका रही। कट्टर वामपंथियों ने मुझे समर्थक (sympathizer) समझा; पर मुझे प्रमुखता (high light) नहीं दी। वाम-विरोधी जान-बूझ कर उदासीन रहे। चूँकि सदैव स्वतंत्र रहा; अतः निर्बाध गति से अपनी भावनाओं-संवेदनाओं-विचारों को काव्याभिव्यक्ति प्रदान करता रहा। कोई क्या कहेगा; ऐसा कभी नहीं सोचा। मेरे काव्य-कर्तृत्व में विषय-वैविध्य के पाये जाने का रहस्य यही है। मेरी विचारणा सचेत अवस्था-अनुस्यूत है; उसमें असंगति-विसंगति का आरोपण करना बेमानी है। स्वतंत्र रचनाकार एक खूँटे से बँध कर नहीं लिखता। वह 'पेशेवर' नहीं होता। अपनी आन्तरिक प्रेरणा को तरजीह देता है।

'तारों के गीत' से लेकर 'राग-संवेदन' तक आपकी अठारह काव्य-कृतियाँ प्रकाश में आ चुकी हैं; आप क्या अनुभूत करते हैं? इन कृतियों के प्रकाशन-क्रम पर प्रकाश डालेंगे? मेरी काव्य-कृतियों का प्रकाशन सन् १९४९ से प्रारम्भ हुआ। प्रकाशक अनायास मिलते रहे।

शुरू-शुरू में कुछ गीत-कविताएँ तारों को लक्ष्य करके लिखी थीं। तब मैं लगभग १५ वर्ष का था और 'विक्टोरिया कॉलेज, ग्वालियर' में अध्ययनरत था। तारे संसार-भर के कवियों के आकर्षण के केन्द्र रहे हैं। मात्र तारों पर कविता-संकलन प्रकाशक को विशिष्ट लगा। इस कृति में कुल २१ रचनाएँ समाविष्ट हैं। प्रकाशक ने इसका पैपरबैक संस्करण बड़े सुरुचिपूर्ण ढंग से प्रकाशित किया। 'तारों के गीत' की समीक्षा 'साहित्य संदेश' के सम्पादक यशस्वी प्रोफ़ेसर-लेखक सत्येन्द्र जी (आगरा) ने आकाशवाणी-केन्द्र दिल्ली



से प्रसारित की; जिसे डा. विनयमोहन शर्मा जी ने अपनी सम्पादित आलोचना-पुस्तक 'महेंद्रभटनागर का रचना-संसार' में शामिल किया है। प्रारम्भिक रचनाएँ होते हुए भी; तारों के ये गीत, पुस्तकाकार प्रकाशित हो जाने के बाद भी; तत्कालीन स्तरीय पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर प्रकाशित भी होते रहे ('आजकल' मासिक, दिल्ली, 'नवयुग' साप्ताहिक, दिल्ली, आदि में)। कुछ गीत एकाधिक अन्य भाषाओं (तेलुगु, अंग्रेजी आदि) में अनूदित व प्रकाशित भी हैं।

द्वितीय काव्य-कृति 'टूटती शृंखलाएँ' भी सन् १९४९ में प्रकाशित हो गयी (६० कविताएँ) इस कृति का प्रकाशन मेरे मित्र श्री. नंदकिशोर मित्तल (कारवाँ प्रकाशन, इंदौर) ने किया। 'कारवाँ' कार्यालय में प्रायः काव्य-गोष्ठियाँ होती थीं। डा. शिवमंगलसिंह 'सुमन' के साथ-साथ मैं भी उज्जैन से आमंत्रित होता था। उन दिनों 'हंस' आदि अनेक उच्च-स्तरीय साहित्यिक पत्रिकाओं में मेरी कविताएँ प्रकाशित हो रही थीं। श्री. नंदकिशोर मित्तल साहित्यिक रुचि के व्यक्ति थे। उन्होंने स्वयं 'टूटती शृंखलाएँ' को प्रकाशित करना चाहा। लेकिन प्रूफ ध्यानपूर्वक नहीं देखे। कुछ कविताओं में अपनी ओर से किंचित परिवर्तन तक कर डाले — बिना मुझे बताए! अच्छा हुआ, 'टूटती शृंखलाएँ' का सही द्वितीय संस्करण सन् १९५० में ही आ गया (स्थानीय साहित्यिक संस्था 'प्रबुद्ध भारती', ग्वालियर द्वारा)। 'टूटती शृंखलाएँ' में प्रकाशित डा. शिवमंगलसिंह 'सुमन' का वक्तव्य इस प्रकार है — "मुझे श्री. महेंद्रभटनागर की 'टूटती शृंखलाएँ' पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। युग की अस्तव्यस्त मानसिक दशा तथा अप्रतिहत संघर्ष की जागरूक वाणी के उन्मेषशील स्वर इसकी झंकार में समाहित हैं। महेंद्रभटनागर की आतुर निर्भीक व्यंजना तथा कलात्मक गढ़न, प्रगतिशील काव्य के स्वर्णिम भविष्य की ओर संकेत करती है। कवि में जन-संस्कृति के नव-निर्माण की जो अदम्य आस्था है वह उसके स्वर को और सबल तथा साधनापरक बनाती है। हिन्दी के वर्तमान कवियों में उसने सहज ही गौरवपूर्ण स्थान बना लिया है। युग की वाणी उसके कंठ में ढलकर जन-जीवन के अश्रु-हास की सजीव गाथा बन गयी है। 'टूटती शृंखलाएँ' संक्रमण-युग के युगान्तरकारी काव्य की भूमिका बनकर आयी है और निःसंदेह भावी समाज के अधिकांश भावात्मक उपकरण अंकुर रूप में उसमें देखे जा सकते हैं। मैं माँ-भारती के इस साधक की उर्वर प्रतिभा

का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।”

‘टूटती शृंखलाएँ’ बहु-चर्चित काव्य-कृति रही।

खजूरी बाज़ार, इंदौर में ‘दीनानाथ बुक डिपो’ लेखकों-कवियों का मिलन-स्थल था। मैं जब भी इंदौर जाता वहाँ कुछ समय जरूर व्यतीत करता। ‘दीनानाथ बुक डिपो’ के मालिक मुझसे बड़े प्रभावित थे। तीसरी काव्य-कृति ‘बदलता युग’ उन्होंने प्रकाशित की। सन् १९५३ में। ऐसा ही, चौथी काव्य-कृति ‘अभियान’ के साथ हुआ। ‘आदर्श विद्या मंदिर, इंदौर’ के संचालक ने सन् १९५४ में उसे प्रकाशित किया। पाँचवीं काव्य-कृति ‘अन्तराल’ साहित्यिक-संस्था ‘युवक साहित्यकार संघ, धार’ ने सन् १९५४ में ही निकाली। ‘स्वरूप ब्रदर्स, इंदौर’; जो मेरी दो-एक पुस्तकें प्रकाशित कर चुके थे; प्रौढ-शिक्षान्तर्गत ‘विहान’ प्रकाशनार्थ ले गये। सन् १९५६ में छपी। सन् १९५६ में ही ‘श्रीअजन्ता प्रकाशन, पटना’ से बहु-चर्चित काव्य-कृति ‘नयी चेतना’ का प्रकाशन हुआ। प्रकाशक बिहार के लब्ध-प्रतिष्ठ साहित्यकार थे। सन् १९५९ में ‘किताब घर / साहित्य प्रकाशन, ग्वालियर’ ने प्रेम-कविताओं की कृति ‘मधुरिमा’ का प्रकाशन किया। उन्होंने इसके दो संस्करण निकाले। नवीं काव्य-कृति ‘जिजीविषा’ श्रीकृष्णचंद्र बेरी जी ने ‘हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी’ से सन् १९६० में प्रकाशित की; जिसकी अधिकांश कविताएँ प्रगतिवादी-जनवादी काव्य-धारा में बहु-उद्धृत हैं। जिस प्रकाशक ने मेरी प्रथम काव्य-कृति ‘तारों के गीत’ छापी थी; उसी ने अपने एक अन्य प्रकाशन-संस्थान ‘कैलाश पुस्तक सदन, ग्वालियर’ से सन् १९६३ में, ‘संतरण’ कविता-संकलन प्रकाशित किया। सन् १९७२ में, जब मैं ‘शासकीय महाविद्यालय, मंदसौर’ में पदस्थ था, ‘लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद’ के मालिक मुझसे मिलने आए और ‘संवर्त’ नामक मेरा नया कविता-संकलन प्रकाशनार्थ ले गये और सन् १९७२ में ही उसे प्रकाशित कर दिया। तदुपरांत, बारहवाँ कविता-संकलन ‘संकल्प’ सन् १९७७ में साहित्यिक संस्था ‘प्रबुद्ध भारती’ (ग्वालियर) से निकला। ‘जूझते हुए’ सन् १९८४ में ‘किताब महल, इलाहाबाद’ ने प्रकाशित किया। सन् १९९० और १९९७

में क्रमशः 'जीने के लिए' और 'आहत युग' ग्वालियर के 'सर्जना प्रतिष्ठान' से प्रकाशित हुए। 'अनुभूत-क्षण' सीधे पहले 'समग्र' (३) में शामिल हुआ (सन् २००१)। फिर, द्वि-भाषिक (अंग्रेजी-हिन्दी) कृति के साथ सन् २००१ में ही, प्रस्तुत हुआ। द्वि-भाषिक (अंग्रेजी-हिन्दी) कृतियों के अन्तर्गत ही 'मृत्यु-बोध : जीवन-बोध' और 'राग-संवेदन' क्रमशः सन् २००२ और २००५ में प्रकाश में आए। इस प्रकार, इस समय तक मेरी अठारह काव्य-कृतियाँ उपलब्ध हैं। 'समग्र' खंड १, २, ३ में क्रम से १६ और 'महेंद्रभटनागर की कविता-गंगा' खंड १, २, ३ में सम्पूर्ण १८ काव्य-कृतियाँ समाविष्ट हैं। इतना लिख चुकने के बाद भी, बहुत-कुछ अभिव्यक्त करने की छटपटाहट है। मैं समाजार्थिक चेतना-सम्पन्न एक आस्थावान कवि 'जीवन-त्रासदी का गायक' समानान्तर मौजूद रहा; देखकर आज आश्चर्यचकित हूँ! यह-सब कैसे हो गया! जीवन में बहुत मानसिक कष्ट झेले, शायद, उनकी अनायास स्वतःस्फूर्त अभिव्यक्ति। लिखकर हृदय का बोझ हलका करता रहा। व्यक्तिगत अनुभूतियाँ अंतर-मन का यथार्थ नहीं हैं क्या?

### आपके काव्य का मूल-स्वर क्या है?

सामाजिक सरोकारों को मैंने प्राथमिकता दी है। रचनात्मक लेखन में मेरे प्रवेश के समय, देश और समाज का जो परिदृश्य था उसने मुझे समाजार्थिक चेतना प्रदान की। देश पराधीन था। भारतीय जनता, गांधी जी के नेतृत्व में, स्वतंत्रता-संघर्ष में आन्दोलन-रत थी। भारतीय समाज पुनरुत्थान की दिशा में सक्रिय था। जन-मानस में सुधारवादी प्रवृत्तियाँ पनप रही थीं। समस्त वातावरण आदर्श-प्रेरित था।

कवि केवल सामाजिक विषयों तक ही सीमित नहीं रहता। वह चिन्तक भी होता है। जीवन और जगत के सनातन प्रश्नों पर भी मनन करता है। व्यक्तिगत स्तर पर हर्ष और वेदना का भी अनुभव करता है। कवि का दार्शनिक उसकी रचनाओं में मुखर होता है।

रचनाकार के हृदय में जितनी गहराई होगी; उतनी प्रभावान्विति से वह जीवन-मर्म का उद्घाटन कर सकेगा। उत्कृष्ट भावों-विचारों-कल्पनाओं से समृद्ध रचनाकार ही उत्कृष्ट रचना कर सकते हैं। मेरे काव्य में भी जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति हुई है। दर्द की अनुभूतियाँ जीवन-यथार्थ का हिस्सा हैं। वे 'स्व' से 'सामूहिक' बनती हैं। क्योंकि कवि कोई विशिष्ट अजूबा प्राणी नहीं होता। वह सामान्य जन का जीवन जीता है। उसके निजी हर्ष-विषाद सामान्य मानवता के सुख-दुख बन जाते हैं। इसे ही भाव-तादात्म्य कहते हैं। अतः मेरे काव्य में राग-विराग के स्वर भी सहज ध्वनित हुए हैं।

तीसरे प्रकार की रचनाएँ वे हैं; जो प्रणय-अनुभूतियों से सिक्त हैं। स्त्री-पुरुष का पारस्परिक आकर्षण व प्रेम स्वाभाविक एवं सनातन है। सृष्टि का अस्तित्व ही इसी से है। मनुष्य में परिष्कृति है; जो अन्य प्राणियों में दृग्गोचर नहीं होती। प्रेम मात्र शारीरिक क्षुधा या आवश्यकता नहीं है। उसका संबंध आत्मा से है। प्रेम में सर्वस्व न्यौछावर करने में हम नहीं हिचकते। प्रेम एक उदात्त व उदार जीवन-मूल्य है। जीवन-वास्तव है; कोरा काल्पनिक नहीं। माना नैतिक मूल्य सर्वकालिक-सर्वदेशीय नहीं होते। वे बदलते भी रहते हैं। लेकिन मनुष्य का पशु-धरातल पर उतर आना या उससे भी अधिक निकृष्ट बन जाना मानवता को स्वीकार्य नहीं। माना, पूर्व में ही नहीं, आज भी नैतिक गिरावट का बाज़ार गर्म है। शायद, वैज्ञानिक और प्राविधिक विकास के फलस्वरूप पूर्व से भी अधिक। प्रेम और वासना का द्वन्द्व कभी समाप्त होने वाला नहीं। पर, इस सारे माहौल को देख कर हार नहीं मानना है।

मेरे काव्य में जो प्रणय-स्वर हैं; वे 'स्वकीया' या किसी काल्पनिक के प्रति हैं। उनकी अभिव्यक्ति संतुलित है। उनके भाव स्वस्थ हैं। प्रणय, समाज अर्थात्सामाजिक समस्याओं के प्रति हमें विमुख नहीं करता। वह नितान्त ऐकान्तिक नहीं होता। ऐसा प्रणय-भाव तो सुरा-प्रेमियों के रचना-कर्म में बहुतायत से देखने को मिलता है — देश में; विदेश में। पत्नी या प्रेमिका बहुत बड़ी जीवन-शक्तिस होती है। वह मात्र विलासिनी नहीं। चौथी प्रकार की कविताएँ प्रकृतिपरक हैं। मनुष्य स्वयं प्रकृति का एक हिस्सा है। माँ के गर्भ से बाहर आते ही; मनुष्य प्रकृति की गोद में पहुँच जाता है। प्रकाश, ताप, हवा, जल, ध्वनि, रंग आदि सबका परिज्ञान उसे होता है। प्रकृति उसे प्रभावित करती है। नाना

वस्तुएँ वह देखता है। चाँद, तारे, उषा, वृक्ष, पौधे, घास, फूल, तितली, जुगुनू, वर्षा, आँधी-तूफान, विद्युत, इंद्रधनुष, बीरबहूटी, नदी-नाले, पर्वत, पक्षी, जलचर आदि के साथ वह अपना जीवन जीता है। प्रकृति के मनोरम और भीषण — दोनों प्रकार के दृश्यों का प्रभाव उसके तन-मन पर पड़ता है। अतः कविता में प्रकृति का अवतरित होना स्वाभाविक है। प्रकृति-काव्य की भले ही कोई उपयोगिता न हो; किन्तु वह हमारी सौन्दर्य-दृष्टि का परिचायक होता है। यह सौन्दर्य-दृष्टि मात्र मनुष्य के पास है; तथा जिसका वह चित्रण करना भी जानता है। कितने भी समुन्नत कैमरे बन जाएँ; कवि द्वारा उरेहे गये चित्रों से उनकी तुलना नहीं हो सकती। कवि के प्रकृति-चित्रण में मात्र प्रकृति नहीं होती; रचनाकार की अपनी सौन्दर्य-दृष्टि और अनुभूतियाँ भी होती हैं। ईश्वर की तरह वह भी प्रकृति-स्रष्टा होता है— अक्षरों में; रंगों-रेखाओं में।

आपके काव्य का अब-तक जो मूल्यांकन हुआ है, उससे आप क्या संतुष्ट हैं?

आप जानते हैं, प्रारम्भ से ही, हम किसी साहित्यिक नेता की शरण में नहीं गये। जाते तो लोग जान ज़रूर जाते। इतने अनदेखे नहीं रहते। पर, हमने कभी किसी आधार को अपनाया नहीं चाहा। ख्याति के प्रति शुरू से ही लापरवाह रहे। कविता को कभी पेशा नहीं बनाया। जब चाहा; लिखा। साहित्य-जगत में पहचान भी कम रही। जीवन-भर यात्रा-भीरु बने रहे। मिलना-जुलना नहीं के बराबर रहा। मात्र पत्राचार द्वारा ही कुछ साहित्यिक मित्रों और पत्र-सम्पादकों से संबंध-सम्पर्क रहा। कवि-सम्मेलनों में भाग लेना; स्वभाव-विरुद्ध रहा। आकाशवाणी कवि-सम्मेलनों के आमंत्रण तक स्वीकार नहीं किये। आयोजकों को इससे आश्चर्य भी हुआ। पर, कारण कुछ नहीं — मात्र स्वभाव और यात्रा-कष्ट से बचने की भावना। साहित्य में कुछ स्थान बन जाने के बाद कई दिग्गजों से सम्पर्क हुआ। लेकिन उनकी प्रकाशन-योजनाओं में शामिल होने की कभी इच्छा नहीं हुई। यदि कहीं जुड़ जाते तो कुछ अधिक लोग जान जाते; औरों की तरह लेखों-बहसों आदि में नामोल्लेख भी होता रहता। दूसरे, हमें नामी प्रकाशक भी नहीं मिले। नामी प्रकाशक प्रचार के बड़े कारगर माध्यम सिद्ध होते हैं। ऐसा हमने अब महसूस किया। उनके प्रयत्नों से

आपकी कृतियाँ देश-भर में फैल जाती हैं। आज तो विदेशों तक में। उनके बँधे हुए समीक्षक और पत्र-सम्पादक होते हैं; जो समय पर समीक्षा लेखन-प्रकाशन का कार्य सम्पादित करते हैं। जिनकी कृतियाँ ऐसे प्रकाशकों ने छापीं उनमें से अधिकांश रातों-रात प्रसिद्ध हो गये! मानता हूँ, उनके लेखन में सार भी रहा होगा। पर, यह भी सच है, यदि उनकी कृतियाँ साधारण कोटि के प्रकाशकों ने छापी होतीं तो उन्हें इतनी जल्दी इतनी ख्याति नहीं मिल पाती। अधिकांश आलोचक स्थापित नामों को दुहराने और अपने को उन-तक सीमित रखने में ही अपने लेखन-कर्म की इति-श्री समझते हैं। हिन्दी का प्राध्यापक-समाज तो आश्चर्यजनक रूप से अनपढ़ देखने में आता है।

जहाँ-तक मेरी काव्य-कृतियों के प्रकाशन का प्रश्न रहा मुझे कभी दिक्कत नहीं आयी। आस-पास के प्रकाशक सहज ही मिलते रहे। उन्होंने अपने सीमित प्रभाव-क्षेत्र में कुछ कृतियों के दो-दो संस्करण निकाले। रॉयलटी भी दी। भले ही अल्प। सरकारी थोक खरीद भी उनके प्रयत्नों से हुई। पर, यह सब एक सीमित क्षेत्र में। देश-व्यापी नहीं। विज्ञापन और प्रचार की उन्होंने कोई आवश्यकता नहीं समझी। जो छापा; आसानी से बिक गया। नतीजा यह हुआ कि मेरी कृतियाँ दूर-दराज के क्षेत्रों में नहीं पहुँच सकीं। प्रमुख विक्रय-केन्द्रों पर भी उपलब्ध नहीं रहीं। परिणामतः लोगों का ध्यान कम गया। आज भी यही स्थिति है। ‘हिन्दी प्रचारक संस्थान’, वाराणसी (‘जिजीविषा’), ‘लोकभारती प्रकाशन’, इलाहाबाद (‘संवर्त’), ‘किताब महल’, इलाहाबाद (‘जूझते हुए’), आदि कुछेक नामी प्रकाशकों ने जो प्रकाशित किया; देश-भर के ग्रंथालयों में पहुँचा है।

जहाँ-तक मेरे काव्य-कर्तृत्व के मूल्यांकन का प्रश्न है; वह आश्चर्यजनक रूप से उपलब्ध है तथा उस पर विमर्श निरन्तर जारी है। लगभग दो-सौ, हिन्दी और अंग्रेज़ी के उच्च-स्तरीय लब्ध-प्रतिष्ठ आलोचकों, साहित्येतिहासकारों, रचनाकारों ने जमकर

सविस्तर लिखा है और आज भी किसी-न-किसी योजनान्तर्गत कार्य हो रहा है। हिन्दी और अंग्रेज़ी में स्वतंत्र आलोचना-पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं तथा अनेक सम्पादित आलोचना-कृतियाँ छपी हैं व तैयार की जा रही हैं। देश ने अनेक विश्वविद्यालयों में शोध हुआ है; हो रहा है ( हिन्दी और अंग्रेज़ी अध्ययन-पीठों में)। स्नातकोत्तर और एम.फिल. के शोध-प्रबन्ध जब-तब लिखे जाते रहे हैं। सात शोधार्थियों को मेरे साहित्य पर पी-एच. डी. की उपाधि प्राप्त हो चुकी है तथा इतने ही शोधरत हैं। अंग्रेज़ी में भी पी-एच. डी. उपाधि-हेतु श्री. रामचंद्रन कार्तिकेयन 'मदुरई कामराज विश्वविद्यालय'(तमिळनाडु) में पंजीकृत हैं। पी-एच. डी. वाले तीन शोध-प्रबन्ध प्रकाशित हो चुके हैं अन्य प्रकाशनाधीन हैं। आधुनिक हिन्दी कविता पर — विशेष रूप से छायावादोत्तर कविता और प्रागतिवादी-जनवादी कविता पर — लिखे जाने वाले सैकड़ों शोध-प्रबन्धों में मेरे कर्तृत्व की चर्चा है; उसका महत्त्व-निर्धारण है। इस सबसे मैं संतुष्ट हूँ। कुछ आलोचकों ने मेरी कविता की स्वस्थ आलोचना की है; कुछ ने कठोर। दुर्भावना-मुक्त किसी भी प्रकार की कठोर आलोचना का स्वागत है। आलोचना में तटस्थता-निष्पक्षता तो रहनी ही चाहिए। लेकिन कुछ लोग जब दुर्भावनावश फ़तवे देने लगते हैं तो उनकी भ्रष्ट बुद्धि पर तरस आता है। हमारा काम तो रचना करना है; प्रशंसा और तिरस्कार से प्रभावित हुए बिना। जिस तरह मधुमक्खी का काम शहद-संचयन है। बस। हमारे रचना-कर्म में बाधा डालने का अधिकार किसी को नहीं है।

आपकी काव्य-कृतियों के अनेक भारतीय और विदेशी भाषाओं में अनुवाद प्रकाशित हैं। इतना यश बिरले कवियों को प्राप्त है। इसका राज क्या है?

मेरी कविताओं के विदेशी भाषाओं में अनुवाद होंगे; ऐसा कभी सोचा-तक न था। एक दिन अचानक प्राहा विश्वविद्यालय (चेकोस्लोवेकिया) के हिन्दी-प्रोफ़ेसर और हिन्दी-कवि

डा. ओडोलन स्मेकल (बाद में, भारत में चेक-राजदूत) का पत्र मिला कि वे मेरी कविताओं के चेक भाषा में अनुवाद करना चाहते हैं। उन्होंने मेरी अनेक कविताओं के चेक में अनुवाद किये। कुछ चेक-पत्रिका 'Novy Orient' में छपे। इसके एकाधिक अंक आज भी मेरे पास सुरक्षित हैं। एक कविता का अनुवाद ('काटो धान') चेक-रेडियो से प्रसारित भी हुआ। (द्रष्टव्य डा. स्मेकल का पत्र : 'समग्र' खंड ६)। हिन्दी की पाठ्य-पुस्तक (साइक्लोस्टाइल्ड) में भी मेरी कविता का अंश सम्मिलित किया गया।

तदुपरांत अंग्रेज़ी में काव्यानुवादों का क्रम शुरू हुआ; जो अविच्छिन्न रूप से चल रहा है। अंग्रेज़ी में ग्यारह कविता-संकलन प्रकाशित हो चुके हैं। अंग्रेज़ी-अनुवाद-प्रारूपों को अंतिम रूप मैंने ही प्रदान किया है। अनेक कविताओं के अंग्रेज़ी-अनुवाद स्वयं मैंने किये हैं। सर्व-प्रथम ये अंग्रेज़ी-अनुवाद, 'बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय', बनारस के अंग्रेज़ी-प्रोफ़ेसर डा. रामअवध द्विवेदी ने, 'नागरी प्रचारिणी सभा, काशी' से अपने सम्पादन में प्रकाशित होने वाली अंग्रेज़ी-पत्रिका 'हिन्दी रिव्यू' में प्रकाशित किये। इधर, भारत में प्रकाशित होने वाली अधिकांश अंग्रेज़ी-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो रहे हैं। Indian English Poetry में उनका उल्लेख किया जाता है। मेरे अंग्रेज़ी काव्य-कर्तृत्व पर अंग्रेज़ी में तीन आलोचना-पुस्तकें भी प्रकाशित हो चुकी हैं। विश्वविद्यालयों में, अंग्रेज़ी में भी, शोध-कार्य प्रगति पर है। इंटरनेट पर अंग्रेज़ी की अनेक वेबसाइट्स पर मेरी ये कविताएँ देखी-पढ़ी जा सकती हैं। पृथक से उनके ब्लॉग भी हैं।

अंग्रेज़ी के बाद, १०८ कविताओं के फ्रेंच-अनुवाद पुस्तकाकार प्रकाशित हुए — 'A Modern Indian Poet : Dr. Mahendra Bhatnagar : UN POÈTE INDIEN ET MODERNE'. अनुवाद 'बर्दवान विश्वविद्यालय' (पश्चिमी बंगाल) की फ्रेंच-प्रोफ़ेसर श्रीमती पूर्णिमा राय ने किये। ये फ्रेंच-काव्यानुवाद भी इंटरनेट पर उपलब्ध हैं।

जापान से प्रकाशित होने वाली द्वि-भाषिक (जापानी और फ्रेंच में) पत्रिका 'Gendaishi



Kenkyu' में सम्पादक Mr. Seiji Hino मेरी कविताएँ भी जापानी-अनुवाद के साथ प्रकाशित करते रहे हैं।

नेपाली में भी इक्के-दुक्के अनुवाद हुए हैं। 'भाषा' में प्रकाशित हैं। उर्दू-अनुवादों की पुस्तक 'एक बेहतर दुनिया के लिए' प्रकाशनाधीन है। अनुवादक — श्री. ईशाक 'तबीब' (बदाऊँ / उ.प्र.) सिंधी में अनुवाद श्री. बलवाणी ने किये हैं। 'भाषा' में प्रकाशित हैं।

अधिकांश भारतीय भाषाओं में काव्यानुवाद प्रकाशित हैं। यथा — बाँग्ला, ओड़िया, तमिळ, तेलुगु, कन्नड़, मळयालम, मराठी, गुजराती, पंजाबी आदि में। बाँग्ला, कन्नड़, मराठी, तमिळ में पुस्तकाकार भी निकले हैं। 'मृत्यु-बोध : जीवन-बोध' कृति का बाँग्ला और कन्नड़ में अनुवाद क्रमशः श्रीमती पूर्णिमा राय (बर्दवान : प. बंगाल) और श्रीमती बी. टी. शशिकला (मैसूर) ने किया है। तमिळ में दो संकलन प्रकाशित हैं — (१) 'Kaalana Maarum'. (अनुवादक Essarci) (२) 'Mahendra Bhatnagar Kavithaigal'. (अनुवादक श्री. K. R. जमदग्नि & Dr. P. Jairaman)। तेलुगु में एक संकलन प्रकाशित है — 'Deepanni Veliginchu'. (अनुवादिका श्रीमती पारनन्दी निर्मला)। मराठी में अधिकांश अनुवाद शान्तिनिकेतन के मराठी-प्रोफ़ेसर डा. न. चि. जोगळेकर जी ने किये हैं; जो पुस्तकाकार प्रकाशित हैं — 'संकल्प आणि अन्य कविता'। कवयित्री श्रीमती मृणालिनी घुले (ग्वालियर) और कवयित्री डा. प्रतिभा मुदलियार (मैसूर विश्वविद्यालय) द्वारा किये गये अनुवाद भी प्रकाशित होते रहे हैं। भारतीय भाषाओं में किये गये काव्यानुवाद, इन भाषाओं की पत्रिकाओं के अतिरिक्त, 'केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय' की द्वि-मासिक पत्रिका 'भाषा' में निरन्तर प्रकाशित हो रहे हैं।

काव्यानुवाद बड़ा कठिन और श्रमसाध्य कर्म है। अनुवादक एक प्रकार से अनुगायक होता है। अन्तःप्रेरणा ही अनुवादक को अनुवाद करने के लिए प्रेरित करती है। कविताएँ जब अनुवादक को अपील करती हैं तभी वह उनका अनुवाद करने में प्रवृत्त होता है।

चौरासी-वर्षीय महेंद्रभटनागर की जीवन-दृष्टि क्या है?

जीवन जैसा जी सके; जीया। जीना है तो प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करना पड़ेगा। जीवन में अनुकूल कम; प्रतिकूल अधिक रहता है। राज्य, समाज, परिवार से सदैव द्वन्द्व की स्थिति बनी रहती है। सहायक कम; बाधक अधिक। इसीलिए स्वावलम्बन को महत्वपूर्ण जीवन-मूल्य माना गया है। हर व्यक्ति को अपने दम-खम पर ही जीना है। माना जीवन में बहुत-कुछ आकस्मिक घटित होता है; किन्तु स्व-विवेक से जीवन को सुनियोजित बनाने की चेष्टा भी मनुष्य करता ही है। हमारे संस्कार, हमारी शिक्षा-दीक्षा, हमारी आस्थाएँ, हमारे विचारणाएँ, हमारे अनुभव जीवन-भविष्य को बनाने-सँवारने का उपक्रम करते हैं — भले ही, हम इच्छानुकूल जी न सकें। बस, इसी कश-म-कश का नाम जीवन है। कोई असामयिक; तो कोई दीर्घायु में महाप्रस्थान करता ही है।

आज ८४ वर्ष की उम्र में, जब सिंहावलोकन करता हूँ तो अतीत के मधुर और तिक्त द्रश्य चलचित्र के समान, बंद आँखों के सामने से गुजरने लगते हैं। अफ़सोस, ऐसे अग्रज जिन्होंने चाहा, सहयोग किया आज जीवित नहीं हैं। अधिकांश आत्मीय समवयस्क भी साथ छोड़ गये। यहाँ तक कि अनेक प्रिय अनुज भी साथ नहीं रहे। अतः एकाकीपन की अनुभूति होना स्वाभाविक है। मुझे 'महेंद्र' नाम से अब कौन पुकारे! एक अपरिचित नाम 'भटनागर जी' सुनायी देता है। मेरा नाम 'महेंद्रभटनागर' या 'महेंद्र' है; 'भटनागर जी' नहीं। 'भटनागर जी' से तात्पर्य क्या? कार्यस्थों में 'भटनागर' होते हैं — माथुर, श्रीवास्तव, सक्सेना आदि की तरह। इनसे किसी की पहचान नहीं बनती। एकाकीपन महसूस न हो; इसलिए नयी पीढ़ी से जुड़ना अच्छा लगता है। वृद्धावस्था में बालक बनने की भावना जाग्रत होती है। किन्तु नयी पीढ़ी और बाल-वृंद में आपके प्रति कोई दिलचस्पी नहीं होती — सम्मान-भाव भले ही हो। हर कोई अपने विकास में व्यस्त है; जो स्वाभाविक है। आपका बोझ ढोने के लिए किसी को फ़ुर्सत नहीं। यदि यह दृष्टि आपके पास है तो वृद्धावस्था में एकाकीपन को भी संतोष और हर्षोल्लास के साथ जीया

जा सकता है।

=====

---

**Dr. Mahendra Bhatnagar,**

**110 BalwantNagar, Gandhi Road, GWALIOR — 474 002 [M.P.]**

**E-mail : [drmahendra02@gmail.com](mailto:drmahendra02@gmail.com)**

-----  
**Dr. Aditya Prachandia,**

**Prof. Hindi, Dayalbag Educational Institute (Deemed University),  
DAYALBAAG, AGRA (U.P.)**